

पं. आशाधरजी और उनका सागारधर्मामृत

पृ. श्री आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी

जैनसाहित्य में 'धर्मामृत' ग्रन्थ का विशिष्ट स्थान है। एवं उसके रचयिता पं. आशाधरजी ने जैन साहित्यकारों में भी अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है।

पंडितवर्य आशाधरजी का जन्म वि. सं. १२३५ में हुआ। उनके जीवितकाल में लिखा गया अन्तिम उपलब्ध ग्रन्थ अनगारधर्मामृत की टीका वि. सं. १३०० की है। इसके बाद वे कितने दिन जीवित थे यह नहीं जाना जाता। उनका जन्म एक परंपराशुद्ध और राजमान्य बघेरवाल जातके उच्च कुल में हुआ था। इसलिए बालसरस्वती मदनोपाध्याय जैसे लोगों ने उनका शिष्यत्व निःसंकोच स्वीकार किया। ग्रन्थकार मूल में मेवाड़ प्रान्त के धारानगर के वासी थे। शहाबुद्दीन घोरी के आक्रमण से त्रस्त होकर पुनः धर्मभावना के हेतु धारानगरी को छोड़कर उसने नलकच्छपुर में वास किया। उस समय धारानगरी विद्या और संस्कृति का केन्द्र बनी हुई थी। वहां राजा भोज, विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा जैसे विद्वान् और विद्वानों का सम्मान करनेवाले राजा एकके बाद एक हो रहे थे। महाकवि मदन की पारिजातमंजरी के अनुसार उस समय विशालधारानगरी में चौरासी चौराहे थे तथा वहां सब जगह से आये हुए विद्वानों की, कला-कोविदों की भीड़ लगी रहती थी। वहां 'शारदासदन' नामक विस्तृत ख्यातीवाला विद्यापीठ था। पं. आशाधरजीने भी स्वयं उस नगरी में ही व्याकरण और न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। उपजीविका के हेतु नाममात्र प्राप्त करके उन्होंने अपना शेष समस्त जीवित धर्मकार्यों में ही बिताया।

वे गृहस्थ होकर भी उनके जीवन में वैराग्य छाया हुआ था। संसार के शरीरभोगों के प्रति उदासीनताही धर्म का रहस्य प्राप्त करने में सहाय्यक बनी। धर्म के ज्ञाता होने से श्रमणों के प्रति तथा उनके धर्म के प्रति सहज अनुराग था। उनके सहस्र नाम में आये हुए

प्रभो भवांगभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः ।

एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥

अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किंचिदुन्मुखः ।

अनन्तगुणमाप्तेभ्यस्त्वां श्रुत्वा स्तोतुमुदतः ॥

इन प्रारंभिक श्लोकों से इसका पुरा पता मिलता है। उन्होंने सागारधर्मामृत के मंगलाचरण में ही प्रतिज्ञा के समय 'तद्धर्मराणि' ऐसा सागारों का बड़े गहजब का विशेषण देके अपने सूक्ष्म दूरगामी तत्त्वदृष्टि का ही परिचय दिया है।

पंडितजी संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के अच्छे अद्वितीय जानकार थे। उन्होंने जैन ग्रंथों के साथ अजैन ग्रंथों का काव्य, अलंकार, न्याय, व्याकरणादिक का सखोल अध्ययन किया था। धर्मशास्त्र के साथ वैद्यक, योगशास्त्र आदि विविध विषयों पर उनका अधिकार जमा था। इसही कारण उनके ग्रंथों में सर्वत्र यथास्थान सभी शास्त्रों के प्रचुर उद्धरण तथा सुभाषित देखने में आते हैं। अष्टांगहृदय, काव्यालंकार, अमरकोश जैसे ग्रंथोंपर वे टीका लिखने के लिए उद्यत हुए। मालवनरेश अर्जुनवर्मा, राजगुरु बालसरस्वती महाकवि मदन जैसे अजैनों ने भी उनकी विद्वत्ता का समादर करते हुए उनके निकट काव्यशास्त्र का अध्ययन किया। तथा विन्ध्यवर्मा के सन्धिविग्रहमंत्री कवीश बिल्हण भी उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं।

उनके उपलब्ध साहित्य में (१) प्रमेयरत्नाकर, (२) भरतेश्वराभ्युदय, (३) राजीमती विप्रलंभ, (४) अध्यात्मरहस्य (योगाभ्यास का सुगम ग्रन्थ) (५) भगवती मूलाराधना टीका, (६) इष्टोपदेश टीका, (७) भुपालचतुर्विंशति टीका, (८) आराधनासार टीका, (९) अमरकोश टीका, (१०) काव्यालंकार टीका, (११) सहस्रनामस्तवन टीका, (१२) जिनयज्ञकल्प (सटीक) (१३) त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र सटीक, (१४) नित्य महोद्योत, (१५) रत्नत्रयविधान, (१६) अष्टांग हृदयद्योतिनी टीका आदि ग्रंथ उपलब्ध हैं। उनके ग्रन्थ के अवलोकन से जैन तत्त्वज्ञान पर उनका असाधारण प्रभुत्व का पता चलता है। प्रथमानुयोग की कथाभांडार का उनका अवगाह का पता अकेले धर्मामृत ग्रन्थ में जो दृष्टान्त उन्होंने सामने रखे उसपर से ही सहज ही लगता है। उनकी विद्वत्ता का गृहस्थजनों में ही नहीं बल्की मुनीजनों में भी समादर था। तत्कालीन पीठाधीश भट्टारकोंने तथा मुनियोंने भी उनके समीप अध्ययन करने में कोई संकोच नहीं किया। इतना ही नहीं उदयसेन मुनिने 'नयविश्वचक्षु' तथा मदनकीर्ति यतिपतिने "प्रज्ञापुंज" कहकर अभिनंदित किया। उन्होंने वादीन्द्र विशालकीर्ति को न्यायशास्त्र तथा भट्टारक विनयचंद्र को धर्मशास्त्र पढाया था। इससे यह सिद्ध होता है की वे अपने समय के अद्वितीय विद्वान थे। इसतरह विद्याकी अपेक्षा उनका स्थान ऊँचा होकर भी चारित्रधारी श्रेष्ठ श्रावक तथा मुनियों की प्रति उनकी श्रद्धा और आदर था।

उनके समस्त उपलब्ध साहित्य में उनका 'धर्मामृत' ग्रन्थ अष्टपैलु हिरा जैसा प्रकाशमान है। मुमुक्षु जीव श्रमण तथा श्रमणोपासक-दूसरे शब्दों में सागर और अनगार दो तरह से विभक्त है। उनके लिए यह ग्रंथ अमृत का भाजन है। अनगार धर्मामृत में अनगार मुनि के चर्या का सुविस्तृत वर्णन आता है जो कि मूलाचार के गहन अध्ययन पर आधारित होकर भी अपना एक खास स्थान रखता है। यही कारण है कि आज तक अनगार-धर्मामृत मुनियों के लिए भी एक प्रमाणित ग्रंथ माना जाता है। धर्मामृत के दूसरे भागों में गृहस्थों के लिए धर्म का उपदेश है। इस ग्रंथ पर उन्होंने अपनी 'भन्यकुमुदचन्द्रिका' स्वोपज्ञ टीका लिखी है। अपने ग्रंथपर स्वयं ही टीका करने में उनका भाव उन्होंने सही प्रस्तुत किया है। टीका भी अपने ढंग की अनोखी और पांडित्यप्रचुर है तथा यत्रतत्र नाना उद्धरणों से परिपुष्ट है। मुनिसुत्रत काव्य में अर्हदास ने लिखा है—

धावन्कापथसंभृते भववने सन्मार्गमेकं परम् ।

त्यक्त्वा श्रान्ततरश्चिराय कथमप्यासाद्य कालादमुम् ॥

सद्धर्माभृतमुद्धृतं जिनवचः क्षीरोदधेरादरात् ।

पायं पायमितः श्रमः सुखपथं दासो भवाम्यर्हतः ॥

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे युग्मे दृशेः कुपथयाननिदानभूते ।

आशाधरोक्तिसदंजनसम्प्रयोगैरच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि ॥

‘कुमार्ग से भरे हुए संसाररूपी बन में जो एक श्रेष्ठ मार्ग था उसे छोड़कर मैं बहुत काल तक भटकता रहा । अन्त में बहुत थककर किसी तरह काललब्धिवश अब जिनवचनरूप क्षीरसागर से उद्धृत किये हुए धर्माभृत को (प्रस्तुत पंडितजी का ग्रन्थ का संदर्भ) सन्तोषपूर्वक पी पीकर और विगतश्रम होकर अर्हन्त भगवान का दास होता हूं और उस भूले मार्ग को पाता हूं । मिथ्यात्वकर्मपटल से ढकी हुई मेरी दोनों आंखें—जो कुमार्ग में ही जाती थी—आशाधरजी के उक्तियों के विशिष्ट अंजन से स्वच्छ हो गईं । इसलिए अब मैं सत्य का आश्रय लेता हूं ।’

इसी तरह पुरुदेव चम्पू के अंत में आंखों के बदले अपने मन के लिए कहा है ।

मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसेऽस्मिन् आशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने ।

अर्थात् मिथ्यात्व के कीचड से गंदले हुए मेरे इस मानस में जो कि अब आशाधरकी सूक्तियों की निर्मली के प्रयोग से प्रसन्न या स्वच्छ हो गया है । भव्यजन कण्ठाभरण में भी आशाधरजी की इसी तरह प्रशंसा की है कि, उनकी सूक्तिया भवभीरू गृहस्थों और मुनियों के लिए सहाय्यक हैं । ऐसी किवदन्ती भी है कि उन के समीप ३०० त्यागी मुनी अध्ययन करते थे । उनकी विद्वत्ता का वर्णन क्या किया जाय ?

जो मानव दर्शन मोहनीय का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर तथा चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम होने पर पंचेन्द्रिय विषयों से विरक्त होकर हिंसादि पांचो पापों का सर्वथा त्याग करता है उसे मुनि या अनगार कहते हैं । तथा जो सम्यग्दृष्टि एकदेश पांच पापों का त्याग करता है वह श्रावक या सागार कहलाता है । इस श्रावक को मूल पाक्षिकाचार, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमाएं तथा अन्तिम सल्लेखना समाधि इन मूलगुण तथा उत्तर गुणों का सागारधर्माभृत में सुविस्तृत निरूपण किया गया है । कुल आठ अध्यायों में गृहस्थ के धर्म का निरूपण किया है ।

प्रथमोऽध्याय का सारांश

जिस प्रकार वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों की विषमता से प्राकृतादि चार प्रकार के ज्वर उत्पन्न होते हैं और उन ज्वर के द्वारा आतुर प्राणि हिताहित विचार से शून्य होकर अपथ्य सेवी बन जाता है । उसी प्रकार मिथ्यात्व के द्वारा व्याप्त अज्ञानी जीव अज्ञान भाव के निमित्त से होनेवाली आहार—भय—मैथुन परिग्रह की अभिलाषा रूप चार संज्ञाओं के वशीभूत हुवा स्वानुभूति से पराङ्मुख होकर विषय सेवन को ही शांति का उपाय समझकर निरंतर रागद्वेष के कारण स्त्री आदि इष्ट तथा दुर्भोजनादि अनिष्ट विषयों में प्रवृत्त हो रहे हैं । प्रायः करके संसारी प्राणी अनादि काल से बीज अंकुर के समान अज्ञान के द्वारा

संततिरूप परम्परा से चली आई परिग्रह संज्ञा को अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, दासी, दास आदि परिग्रह में 'यह मेरा है' इस प्रकार के मूर्च्छात्मक परिणामों को छोड़ने के लिए असमर्थ है। कोई विरले प्राणी जन्मान्तर में प्राप्त हुए रत्नत्रय के प्रभाव से ही साम्राज्यादि विभूति को त्याज्य समझते हैं। तथा तत्त्वज्ञान पूर्वक देश संयम का पालन करते हुए उदासीन रूप से विषयों को भोगते हैं।

जिनका हृदय मिथ्यात्व से व्याप्त है वह जीव मानव तन को धारण करके भी पशु के समान है। और जिनका चित्त सम्यक्त्व रूपी रत्न से व्याप्त है वह पशु हो कर भी मानव है।

संसार के पदार्थों में आसक्ति होने का कारण मिथ्यात्व है। उसके गृहीत अगृहीत और संशय यह तीन भेद हैं। नेमिचन्द्र आचार्य ने मिथ्यात्व के एकान्तमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, अज्ञानमिथ्यात्व, विनय-मिथ्यात्व तथा संशयमिथ्यात्व ये पांच भेद कहे हैं। यह पांचों ही भेद पंडितवर्यने अपने तीनों भेदों में गर्भित किए हैं। दूसरों के उपदेश से ग्रहण किए गए अतत्त्वाभिनिवेशरूप गृहीतमिथ्यात्व, विपरीत, एकान्त तथा विनयमिथ्यात्व के भेद से तीन प्रकार का है। अनादि काल के मिथ्यात्व कर्म के उदय से होनेवाला अज्ञानभाव ही अज्ञान मिथ्यात्व वा अगृहीतमिथ्यात्व कहलाता है। सांशयिकमिथ्यात्व का स्वतंत्र भेद है ही इसलिए पांचोंही मिथ्यात्व इन तीनों भेदों में गर्भित हैं।

आसन्न भव्यता, कर्महानि, संज्ञित्व, शुद्धिभाक्, देशनादि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण हैं। उसमें कुछ कारण अन्तरंग है। कुछ बहिरंग। ग्रन्थकर्ताने इनका पांच लब्धि तथा करणानुयोग में ही कही गई कारण लब्धि आदि सब का समावेश है।

इस कलि काल में समीचीन उपदेश देनेवाले गुरु भी दुर्लभ है। और उनके धर्मोपदेश को सुननेवाले भ्रातृ श्रावक भी दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन की शोभा मूल गुण और उत्तर गुण के धारण करने से ही होती है, क्योंकि सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्ष की जड है जड के बिना वृक्ष नहीं और पुष्पपत्ते बिना वृक्ष की शोभा नहीं। इसलिए मूल गुण और उत्तर गुणों का उल्लेख करना परमावश्यक है।

श्रावक का वर्णन करते समय कहा है कि सागर धर्म का धारी श्रावक के १४ विशेषण होना चाहिए। यह विशेषण और ग्रन्थों में देखने में नहीं मिलते हैं। न्यायपूर्वक धनोपार्जन करनेवाला, गुण और गुरुओं की पूजा भक्ति करनेवाला, अच्छी वाणी बोलनेवाला, धर्म अर्थ और कामपुरुषार्थ को परस्पर विरोध रहित सेवन करनेवाला, रहने का स्थान तथा पत्नी धर्म में बाधा देनेवाला नहीं हो, युक्तिपूर्वक आहार विहार करनेवाला, सज्जन पुरुषों की संगति करनेवाला, बुद्धिमान, कृतज्ञ, इन्द्रियों को वश में करनेवाला, धर्म विधि को सुननेवाला, दयालु तथा पापसे डरनेवाला होना चाहिए जिस प्रकार जबतक खेत की शुद्धि नहीं की जाती तबतक समीचीन अन्कुरोत्पत्ति होती नहीं। उसी प्रकार खान पान संगति की शुद्धि बिना परिणाम विशुद्धि नहीं होती। निर्मल सम्यग्दर्शन पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा मरण के अन्त में समाधि मरण करना यह श्रावक का पूर्ण धर्म है। उसमें भी श्रावक के अवश्य करने योग्य कार्य दान और पूजा है। दान और पूजा धन के बिना हो नहीं सकती और धनोपार्जन हिंसा और आरंभ के बिना नहीं है। हिंसा तथा आरंभजन्य पापों के नाश करने का साधन पक्ष चर्या और साधन है। मैं देवता मंत्र सिद्धि आदि किसी

भी कार्य में संकल्पी हिंसा नहीं मानकर निरपराधी जीवों की रक्षा करे तथा जहाँ तक हो सके वहाँ तक सापराधियों की भी रक्षा करे। संकल्पी हिंसा का त्याग करे तथा सम्यग्दर्शन की निर्मलता के लिए तीर्थ-यात्रादि करे। गृहस्थावस्था में रहते हुए श्रावक को कीर्त्ति भी संपादन करना चाहिए।

पापभंजक दूसरों में न पाये जानेवाले असाधारण गुणों को विस्तृत करना ही कीर्त्ति संपादन का मार्ग है।

तृतीयोऽध्याय

प्रत्याख्यानारण के क्षयोपशम की तारतम्यता से देशविरति के दर्शनादि ग्यारह स्थान हैं। पाक्षिक अवस्था में अष्ट मूलगुण और सप्त व्यसन का त्याग अभ्यासरूप वा अतिचारसहित था। परन्तु दर्शन प्रतिमा में अष्टमूलगुण और सप्त व्यसन निरतिचार होती है। इसलिए दार्शनिक श्रावक मिथ्यात्व अन्याय और अभक्ष्य का त्यागी होता है। पाक्षिक श्रावक पानी छानकर पीता था परन्तु दार्शनिक श्रावक दो मुहूर्त के बाद पानी फिर छानेगा, दुग्ध कपडे से छानकर पीयेगा जिस कुये का पानी है उसी में जीवानी डालेगा। चर्म के वर्तन में रखी हुयी किसी वस्तु का प्रयोग नहीं करेगा। जिस वस्तु की मर्यादा निकल गई उसको भक्षण नहीं करेगा क्योंकि यह सब अष्ट मूल गुण के अतिचार हैं। यदि दर्शन प्रतिमा में दुर्लेश्या के कारण अष्टमूल गुण और सप्त व्यसन में सतत अतिचार लगता है तो वह नैष्ठिक न रहकर पाक्षिक हो जाता है। उसी प्रकार आगे की प्रतिमा में भी समझना चाहिये।

दार्शनिक श्रावक संकल्पी हिंसा का परित्याग करे। तथा उच्छृष्ट आरंभ भी नहीं करे। दार्शनिक श्रावक का कर्तव्य है कि विशेष आरंभ के कार्यों को स्वयं न करके जहां तक हो यत्नपूर्वक दूसरों से कराना चाहिये और व्यावहारिक शांति के लिये अपने सम्यक्त्व और व्रतों की रक्षा करते हुए लोकाचार को भी प्रामाणिक माने अर्थात् उसमें विसंवाद नहीं करना चाहिये। अपनी स्त्री को धर्म पुरुषार्थ में व्युत्पन्न बनाना चाहिये। क्योंकि स्त्री विरुद्ध तथा अज्ञानी रहेगी तो धर्म भ्रष्ट कर सकती है। यदि उसकी उपेक्षा की जावेगी तो वह वैर का कारण भी बन सकती है। इसलिये प्रेमपूर्वक व्यवहार करते हुये स्त्री को धर्म में व्युत्पन्न करना चाहिये। उसी प्रकार कुलीन स्त्रियों को भी अपने पति के मनोनुकूल व्यवहार करना चाहिये। जिस प्रकार क्षुधावेदना को दूर करने के लिये शरीर को स्थिर करने लिये परिमित आहार किया जाता है। उसी प्रकार शरीर और मन के ताप की शांति के लिये परिमित भोग भोगना चाहिये। क्योंकि जैसे अधिक भोजन करने से अजीर्णादि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार भोगों का अतिरेक करने से धर्म, अर्थ और काय का नाश होता है, अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। गृहस्थ वा मुनि धर्म की परिपाटी अक्षुण्ण बनी रहे इसलिए योग्य पुत्र की भी आवश्यकता है। इसलिए योग्य पुत्र की उत्पत्ति तथा संतान को धार्मिक करने का भी प्रयत्न करना चाहिये।

अतिचार रहित व्रतों को पालन करने से ही प्रतिमा होती है। जिस प्रकार शिला की बनी हुई प्रतिमा अचल रहती है उसी प्रकार अपने व्रतों में स्थिर रहना प्रतिमा कहलाती। अभ्यासरूप व्रतों का

पालन करना शील कहलाता है तथा निरतिचार पालन करना प्रतिमा कहलाती है, जैसे दूसरी प्रतिमा धारी के सामायिक आदि सात शील व्रत होते हैं वह सातिचार है वही निरतिचार सामायिक करनेवाले को सामायिक प्रतिमा कहलाती है ।

व्रत की अपेक्षा रखकर व्रत के एकदेश भंग को अतिचार कहते हैं । वह अतिचार अज्ञान और प्रमाद से ही होते हैं । यदि बुद्धिपूर्वक व्रत भंग किया जाता है तो अनाचार कहलाता है, अतिचार नहीं । शास्त्राम्नाय से सभी व्रतों के पांच पांच अतिचार कहे हैं परन्तु अतिचार पांच ही होते हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये । (परेऽप्यूह्यास्तथाव्ययाः) इस वाक्य से सिद्ध होता है जिन कारणों से व्रतों में मलीनता आती है वे सब अतिचार हैं । जिस प्रकार बिना हल जोती हुई खेती उत्कृष्ट फलप्रद नहीं होती उसी प्रकार सातिचार व्रत इष्ट फलप्रद नहीं होते हैं । प्रतिमाओं में अतिचार लगनेपर प्रतिमा वास्तव में प्रतिमा नहीं रहती है । ग्रन्थकार अष्ट मूल गुण आदि के अतिचारों का विवेचन इसी दृष्टिकोण से किया है जिस प्रकार इस ग्रन्थ में अष्ट मूल गुणों के अतिचारों का वर्णन है वैसा और ग्रन्थ में नहीं मिलेगा । इसका कारण है सर्वांगरूप से अज्ञान जनों को धर्म का स्वरूप बताना ।

चतुर्थोऽध्याय

चौथे पांचवे और छठे अध्याय में व्रत प्रतिमा का वर्णन है । उनमें से चौथे अध्याय में तीन शल्य रहित व्रती होना चाहिये इसका वर्णन है क्योंकि शल्य सहित व्रती निंद्य है । श्रावको के पंचाणु व्रत, तीन गुण व्रत तथा चार शिक्षा व्रत ये १२ उत्तर गुण कहलाते हैं ।

चारित्रसार में रात्रि भोजन त्याग नामका छट्टा अणुव्रत अलग माना है परन्तु उसका आलोकित पान भोजन नाम की भावना में अन्तर्भाव हो जाता है इसलिये ग्रन्थकार उसको अहिंसा व्रतका पोषक माना है स्वतंत्र नहीं क्योंकि रात्रि भोजन के त्याग से अहिंसा व्रत की रक्षा होती है । मूल गुणों की विशुद्धि होती है इसलिये रात्रि भोजन त्याग ग्रन्थकारने मूल गुण माना है । वा रात्रि भोजन त्याग को स्वतंत्र नहीं मानने का एक कारण यह भी है कि आचार्य परम्परा पांच व्रतों के मानने की है इसलिये भी इसे स्वतंत्र व्रत न मानकर उसका अहिंसा व्रत में ही अन्तर्भाव कर लिया है ।

जिस प्रकार ज्ञान जब स्थूल पदार्थों का विषय करता है । तब वह स्थूल ज्ञान कहलाता है परन्तु जब वहीं ज्ञान सूक्ष्म पदार्थों का विषय करता है तब वह विशाल ज्ञान कहलाता है उसी प्रकार स्थूल हिंसादि पांच पापों का त्याग करने से अणु व्रती और सूक्ष्म हिंसादि पांचों पापों का त्याग करने से महा व्रती कहलाता है ।

गृहविरत तथा गृहव्रत के भेद से श्रावक के दो भेद हैं । गृहव्रत श्रावक अनारंभी संकल्पी हिंसा का त्याग करता है तथा आरंभजनित हिंसा की प्रति यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है । अर्थात् अहिंसाणुव्रतधारी गृहव्रत श्रावक के व्रत जीवों की संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्याग रहता है परन्तु जिस

स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग करना अशक्य है उसे छोड़कर शेष स्थावर जीवों के हिंसा का भी त्याग रहता है। क्योंकि मुक्ति का कारण केवल अहिंसा है। हिंसा अहिंसा का वर्णन मूलगामी है। देखिये,

प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः ।

प्राणास्त्वद्द्व्युच्छिदा हिंसा तत्फलं पापसंचयः ॥

जो सम्पूर्ण भोगोपभोग में उपयोगी पड़नेवाले असत्य वचन का त्याग नहीं कर सकतः इसलिये भोगोपभोग के उपयोग में आनेवाले वचनों को छोड़कर शेष सावध वचनों का त्याग करता है उसे सत्याणुव्रती कहते हैं। सर्व साधारण के उपभोग में आनेवाले मिट्टी, जल आदि पदार्थों को छोड़कर अन्य सभी अदत्त पदार्थों का त्याग करता है। कोई वस्तु मार्ग आदि में पड़ी हुई मिले उसको भी अदत्त समझकर त्याग करता है। जो अपने कुटुम्बी नहीं है उनके मर जानेपर उसके धन के सम्बन्ध में राजकीय विवाद उपस्थित नहीं करता है। उसे अचौर्याणुव्रती कहते हैं। अथवा प्रमाद के वशीभूत होकर किसी की विना दिए तृण मात्र का भी ग्रहण करना वा उठाकर दूसरे को देना चोरी है।

अब्रह्म त्याज्य है ऐसा मानता हुआ भी जो सम्पूर्ण अब्रह्म के त्यागने में असमर्थ हैं वे स्वदार सन्तोष रूप ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हैं। ग्रन्थकारने स्वदार सन्तोष रूप ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण करते समय 'अन्य स्त्री प्रकटस्त्रियौ' इस पद से यह सूचित किया है कि नैष्ठिक अर्थात् प्रतिमा धारी श्रावक के स्वदार सन्तोष व्रत होता है और अभ्यासोन्मुख व्रती के परदार त्याग नाम का व्रत होता है। इस प्रकार जो स्वस्त्री को छोड़कर सम्पूर्ण स्त्रियों से विरक्त होता है उसे ब्रह्मचर्याणुव्रती कहते हैं। चेतन, अचेतन, और मिश्र वस्तुओं में 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प को भाव परिग्रह कहते हैं। भाव परिग्रह को कृश करने के लिये चेतन अचेतन तथा मिश्र परिग्रह का भी त्याग करना परिग्रह परिमाण व्रत है। परिग्रह का त्याग देश काल आत्मा आदि की अपेक्षा से विचार करके त्याग करना चाहिए। परिमित परिग्रह को भी यथा शक्ति कम करना चाहिये—क्योंकि परिग्रह अविश्वास जनक है लोभ वर्द्धक है, तथा आरंभ का उत्पादक है।

अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः ।

आरम्भमकराम्भोधिरहो श्रेयः परिग्रहः ॥

पंचमोऽध्याय

इस अध्याय में तीन गुण व्रत और शिक्षा व्रत का वर्णन है। अणुव्रतों के उपकार करनेवाले व्रतों को गुणव्रत कहते हैं। जिस प्रकार खेत की रक्षा वाड से होती है उसी प्रकार अणुव्रतों की रक्षा गुणव्रत और शिक्षा व्रतों से होती है। इन सात शीलों से आत्मा में चारित्र गुण का विशेष विकास होता है। दिग्विरति के पालन करने से क्षेत्र विशेष की अपेक्षा सर्व पापों का त्याग होता है। अनर्थदंड त्यागव्रत के पालने से निरर्थ पापों के त्याग का लाभ होता है। भोगोपभोग की मर्यादा करने से योग्य भोगोपभोग के अतिरिक्त सर्व पापों का त्याग होता है।

श्रावक व्रत पालन करने वाले श्रावक को मुनिपद का इच्छुक होना चाहिये यह विशेषण दिया गया है उसकी एक देश पूर्ति दिग्ब्रत पालन करने से होती है। पूज्य गृद्धपिच्छक के मतानुसार इस ग्रन्थ में भी दिग्ब्रत, अनर्थदंड त्यागव्रत, भोगोपभोग परिमाणव्रत यह तीन गुणव्रत तथा सामायिक, देशव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, अतिथि संविभागव्रत इन चारों को शिक्षाव्रत माना है। परन्तु स्वामी समन्तभद्र ने देशव्रत को गुणव्रत तथा भोगोपभोग परिमाण व्रत को शिक्षाव्रत माना है।

दिग्ब्रत—यावज्जीव दशों दिशाओं में आने जाने का परिमाण करना।

अनर्थदंड त्यागव्रत—व्यर्थ के पापों का त्याग करना।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत—भोगोपभोग सामग्री का नियम करना।

सामायिक—आर्त रौद्र ध्यान का त्याग कर समता भाव धारण करना।

देशव्रत—दिग्ब्रत में की हुई मर्यादा में दिन घटि का आदि का नियम करना।

प्रोषधोपवासव्रत—अष्टमी चतुर्दशी पर्व में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना।

अतिथिसंविभागव्रत—अपने लिये बनाये हुये भोजन में से साधुओं का हिस्सा रखना।

अनर्थदंड व्रत के प्रमादचर्या पापोपदेशादि पांच भेद हैं। भोगोपभोग परिमाणव्रत में ही १५ खर कर्मों का त्याग गर्भित है। वन में अग्नि लगाना, तालाब को शोषण करना इत्यादि पाप बहुल क्रूर कर्मों को खर कर्म कहते हैं। त्रसघात बहुस्थावर घात, प्रमादविषय, अनिष्ट और अनुपसेव्य इन पांच अभक्षों का वर्णन भी भोगोपभोग परिमाण व्रत में समाविष्ट किया है।

शिक्षाप्रधान व्रतों को शिक्षाव्रत कहते हैं।

जैसे देशावकाशिक व्रत में प्रातःकाल की सामायिक के अनंतर दिन भर के लिये जो क्षेत्र विशेष की अपेक्षा नियम विशेष किये जाते हैं उससे सर्व पापों के त्याग की शिक्षा मिलती है।

सामायिक और प्रोषधोपवास में भी कुछ काल तक समता भाव रहता है तथा अतिथि संविभागव्रत में भी सर्व परिग्रह त्यागी अतिथि का आदर्श सामने रहता है इसलिये इन व्रतों से भी सर्व पापों के त्याग की शिक्षा मिलती है।

षष्ठ अध्याय

श्रावक की दिनचर्या का वर्णन

सब से प्रथम ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर नमस्कार मंत्र का जप करना चाहिये। तदनन्तर प्रातर्विधि से निवृत्त होकर श्रावक कर्तव्य है कि अपने गृहचैत्यालय में जिनेन्द्र देव की पूजा करके ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक नगरस्थ जिनमन्दिर जावे। वहाँ पर वीतराग प्रभु की पूजन करे तथा धर्मात्माओं को धार्मिक कार्यों में प्रोत्साहन दे, स्वतः स्वाध्याय करे और आपत्ति में फंसे हुये श्रावकों का उद्धार करे। मन्दिरजी आकर न्याय्य

वृत्ति से अर्थ पुरुषार्थ के लिये प्रयत्न करे। उसके बाद घर में आकर मध्याह्न संबन्धी पूजन करे तथा भोजन करने की तैयारी करते समय अपने लिये हुआ भोजन में से पहिले कुछ भोजन मुनियों को दूँ— ऐसा विचार कर द्वारापेक्षण करे। अनन्तर पात्र लाभ होनेपर आहार देकर आश्रित और अनाश्रित जीवों के भरण पोषण-पूर्वक स्वयं भोजन करे। भोजनोपरांत विश्राम लेकर तत्त्वज्ञान संबन्धी चर्चा करे। सायंकाल में वन्दनादि कर्म करके रात्रि में योग्यकाल में स्वल्प निद्रा ले। श्रावक की भोजन करते समय यह भावना होनी चाहिये कि मैं मुनि कब होवूँगा—और रात्रि में निद्रा भंग होने पर बारह भावनाओं का तथा वैराग्य भावनाओं का चिंतवन करे। तथा ऐसा विचार करे कि अहो मैंने अनादि काल से इस शरीर को ही आत्मा समझकर व्यर्थ संसार में परिभ्रमण किया। अब इस संसार का उच्छेद करने के लिये मैं प्रयत्न करता हूँ। रागद्वेष से कर्म-बन्ध, कर्मबन्ध से शरीर, शरीर से इन्द्रिया, इन्द्रियों से विषयभोगो और विषय सेवन से पुनः कर्मबन्ध इस अनादि मोह चक्र का मैं अवश्य नाश करूँगा। जो कामवासना ज्ञानियों के सहवास और तपस्या से भी नहीं जीति जा सकती है—उस कामवासना पर विजय केवल भेद ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है। भेद विज्ञान के लिये जिन्होंने राज्यपद का त्याग किया है वे ही मनुष्य धन्य हैं। इस गृहस्थाश्रम में फँसे हुये मुझे धिक्कार है। मेरे अन्तःकरण में स्त्री और वैराग्यरूपी स्त्री का द्वंद्व चल रहा है। उसमें न मालूम किस की जीत होगी। अहो इस समय इस स्त्री की ही जीत होगी क्योंकि यह मोह राजा की सेना है। यदि मैं स्त्री से विरक्त हो जावूँ तो परिगृह का त्याग बहुत सरल है। प्रतिक्षण आयु नष्ट हो रही है शरीर शिथिल हो रहा है इसलिये मैं इन दोनों में से किसी को भी अपने पुरुषार्थ सिद्धि में सहकारी नहीं मान सकता हूँ। विपत्तियों सहित भी जिन धर्मावलंबी होना अच्छा है। परन्तु जिन धर्म से रहित सम्पत्ति प्राप्त होना भी अच्छा नहीं है। मुझे वह सौभाग्य कब प्राप्त होगा जिस दिन मैं सम्पूर्ण संसार की वासनाओं का त्याग कर समता रस का पान करूँगा। वह शुभ दिन मुझे कब प्राप्त होगा जिस दिन मैं यति होकर समरस स्वादियों के मध्य बैठूँगा। अहो, मुझको वह निर्विकल्प ध्यान कब प्राप्त होगा कि मेरे शरीर को जंगली पशु काष्ठ समझकर अपने शरीर से खाज खुजायेगे। महा उपसर्ग सहन करनेवाले जिनदत्तादि श्रावकों को धन्य है जो घोरोपसर्ग होने पर भी अपने ध्यान से च्युत नहीं हुये। इस प्रकार दिनचर्या पालनेवाले श्रावक के कण्ठ में स्वर्गरूपी स्त्री मुक्तिरूपी स्त्री की ईर्ष्या से वरमाला डालती है।

सप्तमोऽध्याय

इस अध्याय में सामायिकादि नौ प्रतिमा के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

नौ प्रतिमा का स्वरूप तो सामान्य है परन्तु ग्यारहवीं प्रतिमा में कुछ विशेषता है।

इस ग्रन्थ में ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक तथा ऐलक इस प्रकार दो भेद किए हैं। क्षुल्लक पीछी नहीं रखे तो भी चलता है तथा खंड वस्त्र धारण करता है, छुरा या कैची से बाल निकलवा सकता है।

क्षुल्लक के दो भेद भी हैं एक घर भिक्षा नियम तथा अनेक घर भिक्षा नियम ऐसे दो भेद हैं। एक घर भिक्षा नियमवाला क्षुल्लक मुनियों के आहार लेने के अनन्तर आहार को निकलता है और अनेक

घरभिक्षा नियमवाला क्षुल्लक अनेक घरों से भिक्षा लाकर जहाँ प्रासुक पानी मिलता है वहाँ आहार ग्रहण करता है ।

ऐलक एक लंगोटी, पीछी तथा कमंडलु रखता है, कैशलोच करता है, हाथ में भोजन करता है । शास्त्र में इस को आर्य भी कहते हैं । परस्पर में यह सब 'इच्छामि' बोलते हैं ।

जो पूर्व की दोनों प्रतिमाओं के पालन करने के साथ साथ तीनों कालों में निरतिचार सामायिक करता है उसको सामायिक प्रतिमाधारी कहते हैं ।

जो पूर्वकथित तीन प्रतिमाओं के साथ निरतिचार प्रोषधोपवास व्रत का पालन करता है उसको प्रोषध प्रतिमाधारी कहते हैं । जो पूर्व की चारों प्रतिमाओं के साथ सचित्त आहार आदिक का त्याग करता है उसको सचित्त त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं । जो पूर्व की पांच प्रतिमाओं के साथ दिन में मैथुन सेवन का त्याग करता है उसको दिवामैथुन त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं । जो पूर्व की छः प्रतिमाओं के स्त्रीमात्र का त्याग करता है उसको ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी कहते हैं । जो पूर्व की सात प्रतिमाओं के साथ कृषि आदि आरंभ का त्याग करता है उसको आरंभत्याग प्रतिमाधारी कहते हैं । जो पूर्व की आठ प्रतिमाओं के साथ परिग्रह का त्याग करता है उसको परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं । जो पूर्व की नौ प्रतिमाओं के साथ अनुमति का त्याग करता है उसको अनुमतित्याग प्रतिमाधारी कहते हैं । जो पूर्व की दस प्रतिमाओं के साथ उद्विष्ट आहार का त्याग करता है उसको उद्विष्ट त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं ।

साधारणतया संसार परिभ्रमण का विनाश करने के लिए दान देना, शील पालना, चतुष पर्व में उपवास करना और जिनेन्द्रदेव की पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म है । गुरु तथा पंच परमेष्ठी की साक्षी-पूर्वक ग्रहण किए व्रतों को प्राण जाने पर भी भंग नहीं करना चाहिए क्योंकि प्राणनाश केवल मरण के समय दुःखकर है परन्तु व्रत का नाश भव भव में दुःखकर है ।

जो सब प्रकार के इंद्रिय के सुखों में आशक्त न होकर विषयभोगों में संतोष धारण करके शीलवान होता है वह सकलसदाचारों में सिद्धपुरुष माना जाता है, इंद्रादिक के द्वारा पूजनीय होता है, शील और सन्तोष ही संसार का अनुपम भूषण है । जो मनुष्य सज्जन और स्वाभिमानि यतियों के द्वारा अंगीकार किये जानेवाले पापनाशक सन्तोष भाव को धारण करता है, ऐसे उत्तम पुरुष में विवेकरूपी सूर्य नष्ट नहीं होता है अज्ञान अन्धकारमय रात्री नहीं फैलती है । दयारूपी अमृत की नदी नहीं रुकती है । सन्तोषी मनुष्य के हृदय में दीनता रूपी ज्वर उत्पन्न नहीं होता है । धनसंपदाएँ विरक्तता को प्राप्त नहीं होती है और विपत्तियाँ सदैव उससे दूर रहती है । श्रावक अपने व्रतों को पूर्णतया पालन करने के लिए आध्यात्म शास्त्र आदि का अध्ययन करे । तथा बारह भावना और सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन करे । क्योंकि स्वाध्याय और भावनाओं के चिंतवन से आत्म कर्तव्य में उत्कर्ष की प्राप्ति होती है । जो स्वाध्याय भावनाओं में आलस्य करते हैं उनका अपने कर्तव्य में उत्साह नहीं रह सकता है ।

अष्टमोऽध्याय

श्रावक के १२ व्रत हैं। अन्त में सल्लेखना मरण करना ही व्रतों की सफलता है।

सम्यक्प्रकार शास्त्रोक्त विधि से कषाय और शरीर को कृष करना सल्लेखना है।

जिसका प्रतिकार करना अशक्य हो ऐसे बुढापा, रोग, दुर्भिक्ष, उपसर्ग आदि के आनेपर कषायों के साथ सम्पूर्ण आहारादि का त्याग करना धर्म के लिये शरीर छोड़ना समाधि मरण है।

श्रावक और मुनि दोनों ही सल्लेखना के पात्र हैं। जो श्रावक सल्लेखना करते हैं वे साधक कहलाते हैं। जब तक शरीर स्वस्थ रहे तब तक उसका अनुवर्तन करना चाहिये। परन्तु जब शरीर के प्रति अन्न का कोई उपयोग नहीं होता उस समय यह शरीर त्याज्य है। उपसर्ग के कारण तथा निमित्त ज्ञान से वा अनुमान से शरीर के नाश समझकर अभ्यस्त अपने व्रतों को सफल बनाने के लिये सल्लेखना करना चाहिये।

यदि मरण की एकदम सम्भावना हो तो उसी समय प्रायोपगमन करना चाहिये अर्थात् अन्त समय में समस्त आहार पानी का त्याग करना चाहिये।

सल्लेखना गण के मध्य में की जाती है। यदि पूर्वोपाजित पाप कर्म का तीव्र उदय नहीं है तो सल्लेखना अवश्य होती है। दूर भव्य हो मुक्ति दूर हो तो भी समाधिमरण का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। क्योंकि शुभ भावों से मरकर स्वर्ग जाना अच्छा है, अशुभ भावों से पापोपार्जन कर नरक में जाना ठीक नहीं है। जीव के मरते समय जैसे परिणाम होते हैं वैसी ही गति होती है। इसलिये मरण समय का महान माहात्म्य है। यदि मरण समय में निर्विकल्प समाधि हो जाय तो मुक्ति पद की प्राप्ति होती है, अतः अन्त समय के सुधारने के लिये स्वयं सावधान रहना चाहिये। मुनि हो तो अपने संघ को छोड़कर अन्य संघ में जाकर निर्यापकाचार्य के सुपूर्द होना चाहिये तथा वे आचार्य जैसे विधि बतावे वह विधि परिणाम विशुद्धि के लिये करना चाहिये।

समाधि मरण के इच्छुक साधक श्रावक वा मुनि को तीर्थ स्थान में वा निर्यापकाचार्य के समीप जाना चाहिये। यदि समाधि सिद्धि के लिये तीर्थ स्थान में वा निर्यापकाचार्य के समीप जाते समय रास्ते में मरण हो जाय तो भी साधक की समाधि भावना सिद्ध समझी जाती है। तीर्थ क्षेत्र में वा आचार्य के तलाश में जाने के समय प्रथम सब से क्षमा याचना तथा स्वतः सबको क्षमा करनी चाहिये। समाधि इच्छुक भव्य योग्य क्षेत्र काल में विशुद्धि रूपी अमृत से अभिषिक्त होकर पूर्व या उत्तर मुख करके समाधि के लिये तत्पर होना चाहिये।

जिनको देह के दोषों के कारण मुनिव्रत वर्जनीय है परन्तु समाधि के समय उन दोषों से सहित होने पर भी मुनि व्रत दिया जा सकता है। आर्यिका को भी समाधि के समय नग्न दीक्षा रूप उपचरित महाव्रत दे सकते हैं।

समाधिस्त की भावना

प्राणि का देह ही संसार है इसलिये देहाश्रित जो नग्नत्वादि लिंग है वह पर उसके विषय में आसक्ति न करे ।

केवल परद्रव्य की आसक्ति से ही आत्मा अनादि काल से बन्ध को प्राप्त हुआ है । अतः मुमुक्षु को अपने शुद्ध चिदानन्द रूप आत्म-परिणति के अनुभव में ही अपना उपयोग लगाना चाहिये ।

क्षपक पांच प्रकार शुद्धि और पांच विवेकपूर्व समाधि मरण करे पांच अतिचार न लगने दे । निर्यापकाचार्य क्षपक को विविध प्रकार के पक्वान समाधिस्थ मुनि को दिखावे । उनको देखकर कोई सब भोज्य पदार्थ से विरक्त होता है, कोई उनको देखकर कुछ छोड़कर किसी एक के भक्षण करने की इच्छा करता है । कोई एकाध पदार्थ में आसक्त होता है । उनमें से जो आसक्त होता है उसकी उस पदार्थ की तृष्णा को निर्यापकाचार्य सदुपदेश से दूर करते हैं ।

निर्यापकाचार्य का सदुपदेश

अहो जितेन्द्रिय, परमार्थ शिरोमणि, क्या यह भोजनादि पुद्गल आत्मा के उपकारी है ! क्या ऐसा कोई भी पुद्गल संसार में जिसका तूने भोग नहीं किया ! यदि तू किसी भी पुद्गल में आसक्त होकर मरेगा तो सुखाद चिर्भट में आसक्त होकर मरनेवाले भिक्षुक के समान उसी पुद्गल में कीड़ा होकर जन्म लेगा । इस प्रकार निर्यापकाचार्य हितोपदेशरूपी मेघ वृष्टि से क्षपक को तृष्णारहित करके क्रम क्रम से कवलाहार का त्याग कराके दुग्धादि स्निग्ध पदार्थ को बढ़ावे । तदन्तर उनका भी त्याग कराकर केवल जलमात्र शेष रखे । जब क्षप की जल में भी इच्छा न हो तो पानी का भी त्याग करावे तथा सब से क्षमा याचना करावे । समाधि सिद्ध करने के लिये उसकी वैयावृत्ति के लिये मुनियों को नियुक्त करे । तथा निरंतर उसका संबोधन करे । हे क्षपक तू इस समय वैयावृत्ति के लोभ से जीने की इच्छा मत कर । व्याधि से पीडित होकर मरण की इच्छा मत कर, पूर्व में साथ खेलनेवाले मित्रों में अनुराग तथा पूर्व में भोगे हुये भोगों की याद मत कर । आगे भोगों की इच्छा मत कर । अपने परिणाम में मिथ्यारूपी शत्रु का प्रवेश मत होने दे । हिंसा असत्यादि पापों में मन को मत जाने दे । हे क्षपक जो महा पुरुषों मनुष्यकृत, तिर्यककृत, देवकृत तथा अचेतन कृत घोरोपसर्ग आने पर भी समाधि से च्युत नहीं हुये उन गजकुमार, सुकुमाल, विद्युच्चर, शिवभूति आदि महापुरुषों का स्मरण कर । पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान कर—शरीर से ममत्व छोड़ । जो मनुष्य णमोकार मंत्र का स्मरण करता हुआ प्राणत्याग करता है वह अष्टम भव में नियम से मोक्षपद प्राप्त करता है । सब व्रतों में समाधिमरण महान है । और सम्पूर्ण वस्तु की प्राप्ति हुई परन्तु समाधि मरण नहीं मिला—इसलिये सल्लेखनामरण में सावधान रहे ।

मुनि को उत्तम सल्लेखना की आराधना से मुक्ति, मध्यम से इन्द्रादिक पदवी तथा जघन्य आराधना की सफलता से सात आठ भव में मुक्ति होती है । मरते समय निश्चय रत्नत्रय और निश्चय तपाराधना में तत्परता होनी चाहिये । श्रावक भी सल्लेखना के प्राप्त से अभ्युदय और परम्परा से मुक्तिपद भागी बनता है ।

इस तरह आठ अध्यायों में श्रावक धर्म का निरूपण सुविस्तृत किया है। पहिले अध्याय में श्रावक की भूमिका, उसका स्वरूप आदि प्रास्ताविक निरूपण है। द्वितीय अध्याय में पाक्षिक श्रावक का, ३ से ७ अध्याय तक नैष्ठिक श्रावक का, और आठवें अध्याय में साधक श्रावक का वर्णन आया है। ३ से ७ वें अध्याय में ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन है। उसमें तृतीय अध्याय में दर्शनप्रतिमा का, चौथे अध्याय में द्वितीय प्रतिमांतर्गत पांच अणुव्रतों का, पाचवें अध्याय में गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतों का, छठे अध्याय में श्रावक की दिनचर्या का, और सातवें अध्याय में शेष नवप्रतिमाओं का वर्णन आया है।

श्रावक के आचार का वर्णन प्रधान उद्देश होने से सहजहि व्यवहार नय की प्रधानता कर वर्णन है। श्रावक की कौनसी भूमिका में अन्तरंग परिणामों की क्या भूमिका होती है इसका करणानुयोग के अनुसार वर्णन भी पूर्णतः आगमानुकूल होने से करणानुयोग या द्रव्यानुयोग से कही विरोध दिखाई नहीं देता। सम्पूर्ण ग्रन्थ में परिणामों की अन्तरंग दशा का ज्ञान कराने को कभी नहीं चुके। ग्यारह प्रतिमाओं का अन्तरंगस्वरूप क्षयोपशम दशा में होनेवाले चारित्रमोह के सद्भाव में आंतरिक विशुद्धता की तरतमता तथा बहिरंग स्वरूप पांच पापों के क्रमवर्ती त्याग की तरतमता है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ती की भूमिका, हिंसा-अहिंसा निरूपण, परिग्रह का स्वरूप आदि सर्वत्र करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के सूक्ष्म परिशीलन का प्रत्यय आता है।

ग्रन्थ चरणानुयोग का होने से अन्तरंग विशुद्धता के साथ जो बाह्य आचार या परिकर भूमिकानुसार होता है उसका वर्णन अवश्यभावी है। वह बाह्य आचार उस भूमिका में कैसा उपयोगी कार्यकारी तथा फलप्रद होता है इसका प्रथमानुयोग के दृष्टान्त देकर शास्त्रशुद्ध समर्थन किया है। अष्टमूलगुण, सप्तव्यसन पांच पाप तथा बारह व्रत के दृष्टान्त, तथा साधक के समाधिमरण के समय प्रोत्साहित करने के लिए नाना प्रथमानुयोगांतर्गत कथाओं के दृष्टान्त आने से विषय सर्व तरह के श्रोताओं के लिए सुगम और सुलभ बना है।

पंडितप्रवर के पहिले जितना चरणानुयोग का साहित्य था उसका तलस्पर्शी अवगाहन उन्होंने किया था। विविध आचार्यों और विद्वानों के मतभेदों का सामंजस्य स्थापित करने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया है। उनका कहना है “आर्षं संदधीत न तु विघटयेत्” पूर्ववर्ती आचार्यों का जितना भी निरूपण है उसका दृष्टिकोण समझकर सुमेल बिठाने में विद्वत्ता है। इसलिए उन्होंने अपना स्वतंत्र मत तो कहींपर प्रतिपादित नहीं किया, परन्तु तमाम मतभेदों को उपस्थित करके उनकी विस्तृत चर्चा की है और फिर उनके बीच किस तरह आंतरिक एकता अनुस्यूत है यह दिखलाया है। जैसे मूलगुणों के प्रकरण में आशाधरजी ने सब आचार्यों के मतानुसार वर्णन किया है। सबका समन्वय करने के लिए—

मद्यपलमधुनिशाशनपंचफलीविरति पंचाकासनुती ।

जीवदया जलगालनमिति क्वचिदष्ट मूलगुणाः ॥ अध्याय २ श्लोक १८

इसमें रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आये हुये आठ मूलगुणों का अंतर्भाव है। जीवदया के रूप में स्थूल पांच पापों का त्याग स्वीकृत होता है। कहीं पर पंचफलविरति के स्थान में ब्रूतत्याग का निर्देश है। जुआं में हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ सर्व पापों का प्रकर्ष होने से उसकी भी जीवदया के द्वारा स्वीकृति है। आजकल

चर्चा उमड़ पड़ी है और जिज्ञासुओं के मन में शंका है की दर्शनप्रतिमाधारी को केवल सम्यदर्शन निर्मल होना चाहिए, उसे बाजार का घी नहीं खाना मर्यादित वस्तु भक्षण करना कहा लिखा है? परंतु सागारधर्मामृत का तीसरा अध्याय पढ़ने से प्रथम प्रतिमाधारी को किस वस्तु का त्याग होना चाहिये यह स्पष्ट होता है। उन्होंने मूलगुणों के अतिचारों का जो वर्णन किया वह उनकी विशेषता ही कहना चाहिए। इस प्रकार वह बाजार का घी मुरब्बा अचार तथा चलित वस्तु नहीं खा सकता। यदि खाता है तो अष्टमूलगुणों में दोष लगते हैं और जिसे अष्टमूलगुण निरतिचार नहीं वह दर्शनप्रतिमाधारी नहीं हो सकता।

श्रावक का पाक्षिक का भी आचार और दिनचर्या निरूपण करते समय उनका सामाजिक दृष्टिकोण कितना सर्वस्पर्शी और मूलगामी था इसका भी पता चलता है।

प्रतिष्ठायात्रादिव्यतिकरशुभस्वैरचरण । स्फुरद्भ्रमोद्धर्षप्रसररसपुरास्तरजसः ।

कथं स्युः सागारा श्रमणगणधर्माश्रमपदं । न यत्रार्हद्गहं दलितकलिलीलाविलसितम् ॥

यहां श्रावक समाज के अंतर्मानस का कितना हृदयंगम दर्शन हुआ है। समाज में त्याग और त्यागियों के प्रति निष्ठा है। त्यागी साधुओं के विहार से धर्मभावना की परंपरा अविच्छिन्न चलती रहती है। इस कारण धर्म की परंपरा चालू रखने के लिए साधुओं की परंपरा भी अविच्छिन्न होना जरूरी है। इसलिए वे लिखते हैं—

जिनधर्मं जगद्धन्धुमनुबद्धुमपत्यवत् ।

यतीञ् जनयितुं यस्येत् तथोत्कर्षयितुं गुणैः ॥ अध्याय २ श्लोक ७१

विश्वबंधु जिनधर्म की परंपरा चालू रखने के लिए अपत्य की तरह साधुओं की निर्मिति के लिए और उनमें गुणों का उत्कर्ष होने के लिए प्रयास करना चाहिए। सामाजिक दृष्टिकोण की यह गहराई! साधू परंपरा में भी कलि का प्रवेश होने से दोष का प्रादुर्भाव उन्हें दिखाई देता था। परंतु—

विनस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव ।

भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽतिचर्चिणाम् ॥

जिन प्रतिमा की तरह इस कालीन मुनीओं में पूर्व भावलिंगी साधू की स्थापना करके उनकी पूजा करनी चाहिए, क्यों की अतिचर्चा करनेवाले को कौनसी श्रेयोप्राप्ति होगी। श्रावक के जिनमंदीर, जिनचैत्य, पाठशाला, मठ आदि निर्माण करना क्यों जरूरी है इसका वर्णन इसका साक्षी है।

आप संस्कृत भाषा के अधिकारी समर्थ विद्वान थे। आपकी टीका विद्वन्मान्य है आपके ग्रंथों में अन्य सुभाषित और उद्धरणों प्रचुरता से पाये जाते जैसे आपके श्लोकों में अनेक सुभाषित प्रचुरता से पाये जाते।

इन सब विशेषताओं के कारण उनका सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृत दोनों ग्रंथ आज तक सर्वमान्य और प्रमाणभूत माने जाते और माने जायेंगे।